संपादकीय

मक्का में मातम

हज यात्रा पर गए दुनियाभर के लाखों मुसलमान शैतान को पत्थर मारने की रस्म निभाने मक्का के पास मीना गए थे। इस्लाम में यह रस्म बेहद खास और पाक मानी जाती है। लेकिन गुरुवार को यह मौका मातम में बदल गया। भगदड़ मचने से 717 लोग मर गए। 800 से ज्यादा जख्मी हुए। गम का साया भारत तक फैला। यहां से गए 14 व्यक्ति इस हादसे में मरहूम हुए। इस खबर से दुनिया गमगीन है। साथ ही यह पूछ रही है कि हादसों के लंबे सिलसिले के बावजूद सऊदी अरब दोषमुक्त इंतजाम क्यों नहीं कर पाता? सबसे तीखा स्वर ईरान के सर्वोच्च धार्मिक नेता अयातुल्लाह अली खामनेई का रहा, जिन्होंने कहा कि सऊदी सरकार को इस दर्दनाक घटना की जिम्मेदारी स्वीकार करनी चाहिए। बदइंतजामी और गैरवाजिब कदमों की वजह से यह आपदा आई। ईरान के विदेश उपमंत्री ने तेहरान स्थित सऊदी राजनयिक को बुलाकर सऊदी अधिकारियों के अपर्याप्त कर्तव्य-निर्वाह पर आधिकारिक विरोध जताया। ईरान शिया देश है। अंतरराष्ट्रीय मामलों में सुन्नी सऊदी अरब के साथ उसकी प्रतिद्वंद्विता रहती है। इसलिए संभव है कि उसकी प्रतिक्रिया एक हद तक इससे भी प्रभावित हुई हो। मगर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि सऊदी अरब मजहबी फर्ज निभाने आए लोगों की हिफाजत करने में नाकाम रहा। यह उसके अधिकारियों की ही जिम्मेदारी थी कि सुरक्षित ढंग से रस्मअदायगी के लिए वे हज यात्रियों का उचित मार्गदर्शन करते। बीते 11 सितंबर को मक्का में ही प्रमुख मस्जिद के पास निर्माण कार्य में लगे एक क्रेन के गिरने से सौ से ज्यादा लोगों की मौत हो गई थी। इसके बाद अधिकारियों को अधिक सतर्क हो जाना चाहिए था। लेकिन उसके 13 दिन बाद हुई अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण घटना से साफ है कि उन्होंने अतिरिक्त सावधानी नहीं बरती। नतीजतन, दो रास्तों पर एक साथ भीड़ बढ़ गई। लोग कतार तोड़कर चलने लगे। इसी कारण भगदड़ मची। स्पष्टतः यह कुप्रबंधन का नतीजा था। हज के दौरान हादसों का सिलसिला लंबा है। 1990 (1,426 जानें गई थीं) के बाद की यह सबसे बड़ी दुर्घटना जरूर है, मगर इस बीच भी लोगों की जानें जाती रही हैं। 2004 में 251 व 2006 में 364 लोग मारे गए थे। ऐसे दुःखद तजुर्बों के कारण सऊदी अरब को इस मौके के लिए खुद को विशेष रूप से तैयार रखना चाहिए। यह ठीक है कि खासकर धार्मिक आयोजनों के मौके पर भीड़ प्रबंधन दुनियाभर में एक बड़ी चुनौती है। अपने देश में भी कुंभ जैसे अवसरों या धार्मिक मेलों में ऐसी घटनाएं होती हैं। सऊदी अरब सहित सभी देशों की सरकारों के लिए समझने की बात यह है कि धर्म लोगों के जीवन का अभिन्न हिस्सा है। धार्मिक अवसरों पर आने से लोगों को रोका नहीं जा सकता। लेकिन भीड़ को नियंत्रित व अनुशासित जरूर किया जा सकता है। कुशल प्रबंधन से हादसे रोके जा सकते हैं। और ऐसा करना प्रशासन की ही जिम्मेदारी है।

स्वच्छता का ककहरा

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी द्वारा पिछले साल दो अक्टूबर को गांधी जयंती के मौके पर शुरू किये गये स्वच्छ भारत अभियान के एक साल पूरा होने से एक सप्ताह पहले केंद्र सरकार द्वारा इस मिशन को कामयाबी की राह पर आगे बढ़ाने के लिए 25 सितम्बर से 31 मार्च तक देशव्यापी अभियान शुरू किया जा रहा है। इस संबंध में शहरी विकास मंत्री वैंकेया नायडू की अध्यक्षता वाली बैठक में फैसला लिया गया कि स्वच्छता और जागरूकता अभियान के तहत देश भर के सार्वजनिक स्थानों को स्वच्छ बनाये रखने के लिए व्यापक अभियान शुरू किया जा रहा है। स्वच्छ भारत अभियान के दूसरे वर्ष में प्रविष्ट होने वाली स्वच्छता की इस मुहिम को अपने-अपने स्तर पर अंजाम दिये जाने के प्रयास शुरू भी हो गये हैं। स्वस्थ और स्वच्छ भविष्य के लिए स्वच्छता को अनिवार्य बताते हुए रक्षा मंत्री मनोहर पर्रिकर ने नेशनल कैडेट कोर (एनसीसी) के एक कार्यक्रम में कैडेट्स का आह्वान करते हुए कहा कि यदि हर कैडेट स्वच्छता को अपना मिशन मान अपने आसपास के तीन और लोगों को इसके प्रति जागरूक करते हुए एक किलोग्राम कचरा साफ करने का संकल्प ले ले तो कोर के दस लाख सदस्यों की संख्या के हिसाब से स्वच्छता अभियान नई इबारत लिख सकता है। इस कड़ी में एक अन्य कार्यक्रम में शहरी विकास मंत्री वैंकेया नायडू ने भी अभियान को जनांदोलन बनाने पर जोर दिया। वास्तव में भारत जैसे विशाल क्षेत्रफल और अनियंत्रित आबादी वाले देश में सरकार की ओर से स्वच्छता मिशन जैसे अभियानों की शुरुआत करना ही अपने में बहुत बड़ी चुनौती है जिसमें कदम-कदम पर आलोचना का शिकार होना पड़ता है। निश्चित रूप से मोदी भी इस आलोचना को झेल रहे हैं क्योंकि जिस जोश-खरोश से पिछले साल यह अभियान शुरू किया गया था और मंत्रियों से लेकर संतरियों तक सभी ने शुरुआती कुछ दिनों तक सफाई अभियान को अपना लक्ष्य मान लिया था, विरोधियों द्वारा उसी समय उसकी खिल्ली उड़ाई जाने लगी थी। वास्तविकता यही है कि नगरों-महानगरों से लेकर गांव-देहात तक अभी कहीं भी इस अभियान के सफल होने के चिह्न नहीं दिख रहे हैं। इसीलिए सरकार ने मुहिम आगे बढ़ाने के लिए नये सिरे से कवायद शुरू कर दी है। मोदी सरकार ने यदि इस चुनौती को स्वीकार किया है तो आलोचना के बजाए उनके जज्बे की सराहना होनी चाहिए क्योंकि देश केवल कूड़ा-कचरे से ही नहीं बल्कि और भी दूसरे रूपों में स्वच्छ होने की बाट जोह रहा है। अकेले सरकार ही नहीं, देश के हर नागरिक की जिम्मेदारी है कि वह स्वच्छता मिशन की जिम्मेदारी वहन करे। किसी दूसरे को न भी प्रेरित या जागरूक करे और व्यक्तिगत स्तर पर यदि हर व्यक्ति यह संकल्प ले ले कि उसे सार्वजनिक स्थल पर कूड़ा-कचरा नहीं फैलाना है तो एक हद तक स्वच्छ भारत का सपना साकार हो सकता है। लेकिन अभी यह मानसिकता दूर की कौड़ी लगती है।

रोचक प्रसंग

शिक्षक और विद्यार्थी

भारत में गुरु के प्रति सम्मान भाव इतना पुराना है कि विद्यालय का शिक्षक भी सोचता है कि मैं गुरु हूं। बिना इसकी चिंता किये कि गुरु होना साधारण आदमी के वश की बात नहीं! जो अंतिम महिमा को उपलब्ध हो गया; जिसने परम सत्य जान लिया, वही गुरु हो सकता है। जिसे जानने को कुछ शेष न रहा, जिसे होने में अंतिम घटना घट गई; जो समाधिस्थ हुआ; जिसके लिए परमात्मा पारदर्शी हो गया; जो परमात्मा से एक हो गया; जिसमें और परमात्मा में रत्ती भर भेद न रहा- गुरु वह है। शिक्षक और विद्यार्थी में जो फर्क है, वह परिमाण का है। गुण का नहीं। गुरु थोड़ा ज्यादा जानता है, शिष्य थोड़ा कम जानता है। गुरु-शिष्य के बीच मात्रा का भेद नहीं है, गुण का भेद है। गुरु कहीं और शिष्य कहीं और। दो अलग आयाम में वे जीते हैं। उनका अस्तित्व भिन्न है। विद्यालय का शिक्षक व उसके विद्यार्थी में अगर विद्यार्थी थोड़ा कुशल हो तो कोई कठिनाई नहीं कि शिक्षक से ज्यादा जान सके। मात्रा का ही फर्क है। जो बहुत प्रतिभाशाली विद्यार्थी होता है, वह अक्सर शिक्षक से ज्यादा जान लेता है। आज नहीं तो कल जान लेगा। शिक्षक एमए की उपाधि लिए है, विद्यार्थी कल एमए की उपाधि ले लेगा। तो जो फासला है, वह मात्रा का है, गुण का नहीं। गुरु और शिष्य के बीच जो फासला है, वह क्वालिटेटिव है, गुण का है। गुरु कहीं और, शिष्य कहीं और। जब शिष्य का पूरा का पूरा रूपांतरण होगा, तभी यह भेद टूटेगा। यह सीखने से टूटनेवाला नहीं है। जन्मों-जन्मों तक शिष्य सीखता रहे, तो भी टूटेगा नहीं। और यह भी हो सकता है कि जानकारी की दुनिया में गुरु से ज्यादा भी जान ले, तो भी नहीं टूटेगी। इसमें क्या कठिनाई है? सच तो यह है कि आज विद्यालय में पढ़नेवाला एक विद्यार्थी बुद्ध से ज्यादा जानता है। कबीर से ज्यादा तो कोई भी जानता है। परंतु जानकारी का सवाल ही नहीं है। जन्मों-जन्मों तक पढ़ते रहो, लिखते रहो, उपाधियां इकट्ठी करते रहो तो भी तो तुम कबीर के एक कण को न पा सकोगे। तुम्हारी तो बात दूर, तुम्हारा आइंस्टीन भी कबीर के एक कण को नहीं पा सकता। आइंस्टीन भी मरते वक्त इसी पीड़ा से मरता है कि मैं बिना कुछ जाने मर रहा हूं; यह रहस्य जगत का अछूता रह गया। मनस्विद कहते हैं कि आइंस्टीन जितना जानता है, शायद मनुष्य जाति के इतिहास में इतना किसी आदमी ने कभी नहीं जाना। खुद आइंस्टीन चकित था कि इतनी जानकारी मेरे भीतर बनी कैसे रहती है! तो अनूठा मस्तिष्क है, उसकी जानकारी बड़ी है! लेकिन आत्मा? आत्मा वही है, जहां तुम्हारी है; उसमें कोई फर्क नहीं है। साभार : ओशो फ्रैंड फाउंडेशन, नई दिल्ली

विकास की नीतियां बदलने का वक्त

यशवंत सिन्हा

भारत में घोषित आर्थिक सुधारों का इतिहास 24 साल पुराना है, लेकिन इन 24 वर्षों में भी सुधारों को लेकर जो विवाद है, वे अभी तक समाप्त नहीं हुए हैं। आज भी भूमि अधिग्रहण, श्रम कानून, जीएसटी, डायरेक्ट टैक्स (जैसे गार अथवा पिछली तिथि से लागू होने वाले कर) विदेशी पूंजी निवेश इत्यादि अनेक ऐसे मुद्दे हैं, जिन पर आज भी कोई सहमति नहीं बन पाई है। जब डॉ. मनमोहन सिंह देश के प्रधानमंत्री थे तो उन्होंने एक बार कहा था कि आर्थिक सुधारों पर भी उसी प्रकार की राष्ट्रीय सहमति बननी चाहिए जिस प्रकार की सहमति राष्ट्रीय सुरक्षा के मामले में विद्यमान है। लेकिन खेद है कि ऐसा अभी तक संभव नहीं हो पाया है। सबसे अधिक कष्ट तो हमें तब होता है जब हमारे राजनीतिक दल सत्ता में रहते हुए एक प्रकार की सोच रखते हैं और विपक्ष में बिलकुल दूसरे प्रकार की।

यही कारण है कि वर्ष 1991 के बाद जितनी सरकारें केंद्र में रही हैं, उन्होंने मजबूती के साथ आर्थिक सुधारों को आगे बढ़ाया है और विपक्ष में रहते हुए उसका उतना ही पुरजोर विरोध भी किया है। बहुत गंभीरता से इस विषय पर सोचने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि आर्थिक सुधारों का विरोध करना आसान इसलिए हो जाता है कि इन सुधारों के चलते गरीबों के जीवन में तत्काल कोई विशेष अंतर नहीं आता है और इसलिए देश के गरीबों को ठकसाना बहुत आसान हो जाता है। यह सही भी है कि आर्थिक सुधारों का लाभ गरीबों तक तत्काल नहीं पहुंचता है। सुधारों की दिशा मुख्य रूप से और आवश्यक रूप से आर्थिक विकास की दर को बढ़ाने के बारे में होती है। विकास दर बढ़ने से देश को बहुत सारे लाभ होते हैं। गरीबों को भी नियोजन प्राप्त होता है लेकिन तत्काल नहीं। दूसरी ओर गरीब रोजमर्रा की जिंदगी में बिजली, पानी, सड़क, स्वास्थ्य, शिक्षा, नियोजन जैसे मुद्दों से जूझता रहता है। वह इन समस्याओं का तत्काल समाधान चाहता है।

विकास के ये दो पहलू यानी कि आर्थिक विकास दर में वृद्धि तथा आम लोगों की जीवनशैली में सुधार को एक साथ जोड़कर देखने की आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश इस दिशा में हमारे देश में नारे तो बहुत बने, लेकिन धरातल पर उसके अनुरूप सोच मजबूती से नहीं उतर पाई। ताजा नारा है इनक्लूसिव ग्रोथ यानी समावेशी विकास का इसी बीच हमारे देश में अमीरों-गरीबों के बीच की खाई बढ़ती चली गई।

टीवी के माध्यम से गरीबों को भी अमीरों की सर्वसुखसंपन्न जीवनशैली का नित्य प्रतिदिन दर्शन होने लगा। उनके अंदर भी अपनी जीवनशैली में सुधार लाने की उत्कट अभिलाषा पैदा हुई। कुछ लोग शहर की ओर भागे। जो गांव ही में छूट गए उसमें से कई लोगों ने हिंसा का रास्ता अपनाया और समाज में चारों तरफ एक कोलाहल का वातावरण पैदा हो गया। हम सब लोग, जो कभी न कभी शासन में रहे हैं, उन्होंने देश की अधिकांश जनता के साथ न्याय नहीं किया है।

स्पष्ट है कि देश में जिस प्रकार की नीतियां केंद्र या राज्य सरकारों के द्वारा पिछले सात दशकों में चलाई गईं, वे नाकाम हो चुकी हैं। अगर हम आगे भी उसी ढर्रे पर चलते रहे तो आगे भी हमें असफलता ही हासिल होगी इसलिए सोच को बदलना आवश्यक है। अतः लाख टके का सवाल यह है कि सरकारों को अब क्या करना चाहिए?

> देश में जिस प्रकार की नीतियां केंद्र या राज्य सरकारों के द्वारा पिछले सात दशकों में चलाई गईं, वे नाकाम हो चुकी है। अगर हम आगे भी उसी ढर्रे पर चलते रहे तो आगे भी हमें असफलता ही हासिल होगी, इसलिए सोच को बदलना आवश्यक है। देश की जनता तब आगे बढ़ेगी, जब हम जल्द उसकी मूलभूत जरूरतें पूरी करें और उनके बच्चों के लिए रोजगार के अवसर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध कराएं।

2 मई, 2015 को मैंने प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को एक पत्र भेजा था जिसमें मैंने सुझाव दिया था कि भारत सरकार को दो योजनाएं शुरू करनी चाहिए। एक, प्रधानमंत्री ग्राम पुनर्निर्माण योजना और दूसरी, प्रधानमंत्री श्रम सुधार योजना। मैंने पत्र में यह भी कहा था कि प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना को प्रभावशाली बनाने के लिए उस योजना पर कम से कम 50 हजार करोड़ रुपए प्रतिवर्ष खर्च करना चाहिए। इसकी व्यवस्था हम आसानी से मनरेगा तथा नाबार्ड के रूरल इंफ्रास्ट्रक्चर डेवलपमेंट फंड से कर सकते हैं। सिंचाई की उपलब्धता से हमारे देश के किसानों के जीवन में जो फर्क देखने को मिलेगा उसकी शायद हम कल्पना भी नहीं कर रहे हैं। देश की अर्थव्यवस्था को भी इससे भरपूर सहायता मिलेगी।

ग्रामीण जनता की जीवनशैली में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि देश के हर गांव को जोड़ने के लिए एक पक्की सड़क हो, खेतों के लिए सिंचाई की सुविधा उपलब्ध हो, सबके पास घर हो, बिजली हो, साफ पीने का पानी हो, शौचालय और स्वच्छता हो, हरेक गांव में कम से कम एक प्राइमरी स्कूल हो तथा हर दो किलोमीटर के भीतर एक स्वास्थ्य केंद्र हो।

इन्हीं सब सुविधाओं को शहरों की झुग्गी-बस्तियों में रहने वाले लोगों को भी उपलब्ध करवाया जाए। हमें यह सब करने का एक नया तरीका खोजना पड़ेगा। मेरा सुझाव है कि हमें इन योजनाओं के लिए भारत सरकार की ओर से राज्य सरकारों या सीधे पंचायतों को 100 प्रतिशत राशि उपलब्ध करानी चाहिए। प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना की तर्ज पर यह योजना भी गाडगिल-मुखर्जी फॉर्मूले पर आधारित नहीं होकर हर राज्य की आवश्यकता पर आधारित होनी चाहिए। आवश्यकता का आकलन करने के लिए देश के 6 लाख गांवों में सरकार के तीन प्रतिनिधियों की एक टोली जानी चाहिए। हर टोली के पास एक प्रपत्र होना चाहिए, जिसमें बिजली, पानी इत्यादि सुविधाओं का जिक्र होना चाहिए। टोली का काम केवल टिक करना होगा। गांव में यदि सड़क है तो टोली हां को टिक करेगी, नहीं है तो टोली नहीं को टिक करेगी। इस प्रकार हर गांव का एक सर्वे हो जाएगा और सबसे पिछड़े गांवों तथा क्षेत्रों की जानकारी भी। ग्रामीण क्षेत्र में सैकड़ों की संख्या में सरकारी सेवक काम करते हैं। यदि सावधानी से इन टोलियों का निर्माण किया जाए तो अधिक से अधिक एक महीने के भीतर हमें हर गांव के बारे में सारी आवश्यक सूचना मिल जाएगी और उसके बाद योजना को क्रियान्वित करने में विलंब नहीं होगा।

इस प्रकार की प्रणाली शहरी झुग्गी-झोपड़ियों में भी अपनाई जानी चाहिए। जीवनशैली में सुधार लाने के साथ ही साथ ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में इन योजनाओं के चलते प्रचुर मात्रा में नियोजन के अवसर भी पैदा होंगे। गांव के लोगों को गांव में ही रोजगार उपलब्ध हो पाएगा।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि आर्थिक विकास दर में वृद्धि के माध्यम से ही देश आगे बढ़ेगा, पर देश की जनता तब आगे बढ़ेगी, संतुष्ट होगी और आर्थिक सुधारों का स्वागत करेगी, जब हम शीघ्र से शीघ्र उसकी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करें और उनके बच्चों के लिए रोजगार के अवसर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध कराएं।

(लेखक पूर्व केंद्रीय मंत्री हैं)

मुद्दा

शिक्षा का दायित्व नए क्षितिज की खोज

परिचय दास

जिस देश में प्राथमिक शिक्षा ही सामान्य जन के लिए कठिन हो, वहां उच्च शिक्षा विशिष्ट मामला है। शिक्षा हमारे सर्वांगीण विकास का हेतु है। उच्च शिक्षा हमें परिपूर्णता की तरफ ले जाने में मदद करती है। हमारी रुचि के क्षेत्र को वह गहराई से समझाती है। इसीलिए उच्च शिक्षा के लिए शिक्षा-प्रविधि का नवाचारी (इन्नोवेटिव) बने रहना अति आवश्यक है। उच्च शिक्षा में नव दृष्टि बोध उसे प्रासंगिक व औचित्यपूर्ण बनाएगा। पुरानी राहों से आज की शिक्षा का सफर नहीं काटा जा सकता। अब अन्तर्विषयक अध्ययन का समय है। चूंकि दुनिया व विषयों की अंतरंगता बढ़ रही है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि इससे अपने समय को समझने में अधिक मदद मिलती है। अक्सर यह स्पष्ट नहीं होता कि जिस विषय में हमें पोस्ट ग्रेजुएशन करना है, उसके भविष्यत अर्थ क्या हैं उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद लोग कई बार समाज के पारम्परिक तंतुओं से या तो संबंध नहीं रख पाते या वे उनके लिए महत्वहीन हो जाते हैं उच्च शिक्षा में ऐसी गुंजाइश होनी चाहिए कि व्यक्ति का समाजिक व सांस्कृतिक जुड़ाव बेहद सक्रिय व ऊष्मा संपन्न हो। वह समाज का टापू न लगे। यदि टापू भी हो तो सृजनशीलता का मन लिए हो जिसमें कॉमन मैन भी बसा हो! मानविकी के विषयों में संवेदन, तर्कशक्ति, प्रेक्षण, विवेचन की क्षमता बढ़ाने की कोशिश करनी चाहिए। इनके बगैर ये महज सैद्धांतिक खामखयाली या वायवीय बन जाएंगे। यदि इतिहास पढ़ते हुए हम अपने पुरखों से लेकर आज के समय का विश्लेषण नहीं कर सकते, तो इतिहास महज घटनाओं का संपुंजन है। उसके निहितार्थ के विवेचन का माद्दा विकसित करना धर्म होना चाहिए। इसी तरह यदि साहित्य से रससृष्टि, संवेदन तथा दृष्टिबोध संभव न हुआ तो उसका क्या अर्थ है। समाज को भी चाहिए कि ऐसे विषयों के प्रति उदासीनता न बरतें तथा कॅरियर के साथ-साथ इन्हें भी समान महत्व दें, ताकि समाज व व्यक्ति के संबंध और सुदृढ़ हों और व्यक्ति का मानसिक विकास संभव हो। इस अर्थ में संवेदन भी बढ़े थोड़ी बारीकी से देखें तो पाएंगे कि विविद्यालयों में अध्ययन के उपरांत भी भारी संख्या में युवा बेरोजगार रहते हैं। कुछ को छोड़ दें तो ज्यादातर विषयों का जीवन की वास्तविकताओं से लगाव कम ही होता है। इस तरह यह शिक्षा ज्यादातर एक ट्रेजडी ही रचती है। इसमें दो स्तरों पर बदलाव की जरूरत है। एक एकेडमिक्स में नवाचार (इन्नोवेशन) और दूसरा- विषयों को जीवन से जोड़कर आजीविका पक्ष की मजबूती। शिक्षा के पाठ्यक्रम को समकाल का सहचर होना चाहिए तथा उसमें हमारे आंतरिक सौंदर्य को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता भी हो। पाठ्यक्रमों में समयानुकूल बदलाव आवश्यक है। इसके लिए प्रतिभाशाली विद्वानों, चिंतकों तथा विषय पर गहरी पकड़ रखने वालों को जोड़े रखना चाहिए। तेजस्वी व सहृदय ही बड़ा परिवर्तन का साथी व साक्षी बन सकता है। विभिन्न चिंतन सरणियों तथा धाराओं के प्रति समभाव हो। यह प्रयत्न होना चाहिए कि हर विषय का आजीविका पक्ष भी तलाशा जाए। ऐसा भी संभव है कि विषय का अध्ययन करते हुए विद्यार्थी स्वयं समर्थ हो जाएं। विषय के अनुषंगी विषय भी सहकारी रूप में पढ़ाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए कुछ लोगों का मत है कि साहित्य के साथ अनुवाद व पत्रकारिता भी जोड़ दिए जाएं तथा तुलनात्मक अध्ययन संभव हो तो उसे आजीविका का संबल बनाया जा सकता है। इस तरह समाजशास्त्र की एप्लाइड स्टडी फलदायी सिद्ध हो सकती है। इतिहास का समकालीन अध्ययन बेहद रोचक तथा रोजगारपरक हो सकता है। संस्कृति को सूचना प्रौद्योगिकी तथा मेडिकल से जोड़कर स्थानीय सर्वे के आधार पर नयी संभावनाएं तलाशी जा सकती हैं। उपर्युक्त बातों को कहीं सैद्धांतिक व एकेडमिक अध्ययन की शिथिलता से न जोड़ा जाए। प्रयोजन सिर्फ यह है कि नए क्षितिज खोज कर संभावनाएं विकसित की जाएं विविद्यालयों का प्रबंधन अकादमिक तथा प्रशासनिक पक्षों का मिला-जुला रूप है। सरकारी तंत्र के अलावा यदि विविद्यालय स्वयं में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लें, तो यह बड़ी उपलब्धि होगी। लेकिन ध्यान रखिए, उच्च शिक्षा को एलीट क्लास का विषय नहीं बनाया जा सकता। यह सामान्यजन के विरुद्ध है। इसका उलट यह भी कि सरकार पर अतिनिर्भरता औचित्यपूर्ण नहीं। इसलिए कोई बीच का रास्ता निकालना चाहिए। कुलपति का अकादमिक क्षमता से संपन्न होना शिक्षा के हित में है। अंततः विविद्यालयों का कार्य अकादमिक जगत में हस्तक्षेप करना है। विविद्यालयों के बोझिल, दमघोंटू वातावरण का निस्तारण कर उसे सुरुचिपूर्ण, आह्लादक तथा विचारप्रधान बनाना चाहिए। शिक्षकों व विद्यार्थियों की स्वायत्तता को बहुत सम्मान देना चाहिए, क्योंकि इसके बाद ही बड़ा कार्य संभव है। वे इस बात के लिए प्रेरित किए जा सकते हैं कि मर्यादित रहना भी एक कला है। परिसर में बढ़ती हिंसा व दुर्व्यवहार के पीछे आत्मीय संबंधों के अभाव का मनोविज्ञान है। यदि यहां पर एक पारिवारिक वातावरण विकसित किया जा सके तो अनेक अप्रिय प्रसंग घटित ही न हों। प्रतिभाशाली व तेजस्वी अध्यापक विद्यार्थियों को दृष्टिसंपन्न बना सकते हैं इसलिए अध्यापकों की दिलचस्पी व गुणवत्ता शिक्षा के हित में है। विजनरी अध्यापकों को अवश्य स्थान देना चाहिए। इस पर ध्यान न देना, शिक्षा को स्तरहीन बना देना है। विविद्यालय परिसर में शैक्षिक संस्कृति का विकास करना चाहिए, जो शिक्षकों तथा विद्यार्थियों को सर्वांगीण फलश्रुति दे। बेहतर हो कि परंपरा और नयी दृष्टि का सम्मिलन रखा जाए। अपने समय को अलक्षित नहीं किया जा सकता। आधुनिकता की दौड़ में शाश्वत विचारों व साहित्य से वंचित होना उचित नहीं, उसी तरह धुर पारंपरिकता से समकाल को पहचाना नहीं जा सकता। परंपरा के औचित्यपूर्ण अवगाहन तथा समकाल की चेतना के वाजिब स्वीकार का संतुलन उच्च शिक्षा व विविद्यालय को नया संबल दे सकते हैं। विविद्यालयों में विचारों की गहमा-गहमी व पारस्परिक संवाद बना रहना चाहिए। ज्ञान के नवीनतम क्षेत्रों के प्रति उत्सुकता ही किसी विविद्यालय को प्रासंगिक बनाए रख सकती है। परन्तु ध्यान रखिए, विचारों की नवीनता, पारस्परिकता, कर्मठता, प्रयोगशीलता, दृष्टिगत खुलापन और आत्मीयता से उच्च शिक्षा ही नहीं, जीवन की चुनौतियों का भी सामना किया जा सकता है। हम विश्व में हैं और विश्व हमारे अंतस में है। यह विद्या की पारस्परिकता है।

प्रसंगवश

होश में आओ!

कबीरदास

जैसी बीमारी वैसा ही इलाज इसी को कहते हैं। के एस भगवान के साथ विहिप वाले भाइयों ने एकदम सही किया है। बंदा पढ़ा-लिखा है। पढ़ा-लिखा ही क्यों, बाकायदा विद्वान टाइप का लेखक है। ऊपर से तर्कवादी और है। सो भाइयों ने उसका मौजूं इलाज निकाला है। कर्नाटक का लेखक है, सो बंदे पर कर्नाटक भर में पूरे सौ मुकदमे करेंगे, अपनी भावनाओं को चोट पहुंचाने के लिए। सौ मुकदमे यानी सौ मामलों में नोटिस से लेकर तारीखों तक, हर चीज की सौ-सौ बार कागजी लिखत-पढ़त। अगले को अपनी पढ़ाई-लिखाई का बड़ा गरूर है तो अब पढ़ाई-लिखाई ही करता रहे। मुकदमों का आंकड़ा सौ तक पहुंचने से पहले पढ़ाई-लिखाई से ही तौबा नहीं कर ले तो मुकदमे ठोकने वालों का नाम बदल दीजिएगा। नाम का ही भगवान क्यों रहे, मुकदमे के लिए सौ-सौ जगहों तक दौड़कर भी दिखाए! मां-बाप ने भगवान नाम क्या रख दिया, खुद को भगवान ही समझने लग गए! क्या सोचा था, जो भी चाहे रच देंगे और लोग आंख मूंदकर आशीर्वाद की तरह शिरोधार्य कर लेंगे! ऐसे ही रचने वाले हैं तो सौ जगहों में मुकदमे के लिए अपने सौ अवतार रचकर दिखाएं! इसके लिए भी मुकदमा ठोकने वालों को तरह-तरह की बातें सुननी पड़ रही हैं। सैकुलरवालों को तो खैर वे कुछ भी करें, उनका काम विरोध करना ही है, पर चार शब्द लिखकर खुद को लेखक मानने वाले भी इकट्ठे हो गए हैं। खैर! केसरियाभाई ऐसी कांय-कांय से वैसे भी घबराने वाले नहीं हैं। फिर, यह तो उनके जनतांत्रिक अधिकारों का सवाल है। सीधी सी बात है कि अगर किसी लेखक को अपने मन की बात लिखने की स्वतंत्रता है, तो दूसरों को भी तो उसके लिखे या बोले से आहत होकर, मुकदमा दायर करने की स्वतंत्रता है। फिर यह तो लिखे हुए शब्द का जवाब लिखे हुए शब्द से ही देने का मामला है। सिर्फ कविता, कहानी, लेख, भाषण वगैरह लिखना ही तो लिखना नहीं है। आखिरकार, एफआईआर लिखना/लिखाना भी तो लिखना ही माना जाएगा! कलबुर्गी की तरह लेखकों को हमेशा के लिए चुप कराने की तो खैर छोड़ ही दीजिए, वे किताब-विताब जलाएं, पाबंदी लगवाएं, विरोध-प्रदर्शन करें, तब भी सब कहते हैं कि शब्द का जवाब शब्द से, लेखन का जवाब लेखन से क्यों नहीं देते? अब लेखन का जवाब, सौ-सौ एफआइआर लेखन से दे रहे हैं, तब भी लोगों को आपत्ति है। क्या सारे अधिकार बुद्धिजीवियों, कलम चलाने वालों के ही हैं। हम तो कहेंगे कि कलबुर्गी, पानसरे, दाभोलकर वगैरह के मामलों में हिंसा-हिंसा का शोर मचाने वाले भी पाखंडी हैं। माना कि हरेक हत्या हिंसा होती है, लेकिन हरेक हिंसा हत्या ही नहीं होती है। हिंसाएं और भी हैं जमाने में हत्या की हिंसा के सिवा। हिंसा-हिंसा करने वाले गांधी के नाम की दुहाई तो खूब देते हैं, पर इस पर चुप लगा जाते हैं कि गांधी जी ने ही शारीरिक हिंसा के अलावा हिंसा की दूसरी भी किस्में बतायी हैं। विचार की हिंसा इनमें खास है। गांधी जी ने तो कभी नहीं कहा कि विचार की हिंसा, शारीरिक हिंसा से कम बुरी होती है। वास्तव में उन्होंने तो कभी यह भी नहीं कहा था कि विचार की हिंसा, किसी का वध करने की हिंसा से भी हल्की होती है। क्या कलबुर्गी, पानसरे, दाभोलकर वगैरह या अब भगवान जैसे लोग, केसरिया वालों के खिलाफ वैचारिक हिंसा नहीं करते आए हैं? तर्कवाद की आड़ में क्या ये लोग हमारे विचारों, हमारे विश्वासों, हमारी आस्थाओं पर ही चोटें नहीं करते आए हैं। उन्हें अंधविश्वास से लेकर बेसिर-पैर की बातें तक बताते आए हैं सो ऊपर से। केसरिया भाइयों ने बहुत सहा, साठ साल चुप रहे, पर अब और नहीं। अब वे भी चुप नहीं रहेंगे। जवाबी हिंसा, हिंसा न भवति! पर जवाबी हिंसा से कोई यह न समझे कि वे हमेशा दूसरों के पहले हिंसा करने का इंतजार ही करते रहेंगे। जवाबी कार्रवाई सिर्फ वही नहीं होती है जो दूसरी ओर से कार्रवाई होने के बाद की जाए। निवारक प्रहार भी तो एक तरह से जवाबी कार्रवाई ही है, बस उसमें दूसरे के हमला करने का इंतजार नहीं किया जाता है। भगवान के खिलाफ हो या कलबुर्गी के, निवारक कार्रवाई ही तो हो रही है, कि बाकी लेखक-वेखक देखें और हमला करने से बाज आएं।